नवदशकीय उपन्यास और हिन्दी साहित्य

श्रीमती पुष्प लता (शोध छात्रा) डा0 धनेश कुमार मीना, (शोध निर्देशक)

विषय हिन्दी कला विभाग मंगलायतन विश्वविद्यालय वेसबा अलीगढ

सारांश, अपने उद्भव काल से लेकर आज तक हिन्दी उपन्यास ने अनेक मंज़िलों और सोपानों को पार किया है। उसकी विकास यात्रा में अनेक मोड़ आये हैं, जिनको अपने में समेटती हुई अनेक अवरोधों से टकराती हुई, अनेक मान्यताओं को ग्रहण करती हुई हिन्दी उपन्यास की विपुल धारा एक विशाल नदी की तरह निरन्तर व्यापक होती चली गयी। उपन्यास की इस लम्बी यात्रा में सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण मोड़ नवें दशक का प्रादुर्भाव काल है। इस काल खण्ड को भारतीय जनमानस की बदलती हुई स्थितियों का युग कहा जा सकता है। मध्यमवर्गीय चेतना की दृष्टि से नवाँ दशक हिन्दी उपन्यास के इतिहास में महत्वपूर्ण कालखण्ड है। आम आदमी ने स्वतंत्रता की उपलब्धियों को लेकर जो सपने देखे थे वह एक दशक बीतते न बीतते बिखर जाते हैं। रामराज्य का स्वप्न देखने वाले आम जनमानस को मिलता है आजादी के नाम पर स्वार्थ, शोषण और भ्रष्टाचार, कुण्ठा, हीन भावना, संत्रास का लम्बा सिलसिला। तत्कालीन स्थितियों की इस कटुता को हिन्दी उपन्यासकारों ने तीक्ष्णता के साथ महसूस किया तथा उसकी अनुगूँज हमें नवें दशक के उपन्यासों में सुनाई देती है। स्वातन्त्रयोत्तर काल में हिन्दी उपन्यास यात्रा में एक नया मोड़ आया। भारतीय जनता को जो स्क्त रंजित आजादी मिली। उसने मूल्यों के प्रति उसमें अनास्था उत्पन्न कर दी। उपन्यासकारों की नयी पीढ़ी ने उन स्थितियों को तीव्रता से अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया। छठे, सातवें दशक में जो भाव अंकुरित हुए थे वे ही आठवें दशक के उपन्यासों में पुष्पित–पल्लवित हुए तथा नवाँ दशक आते–आते एक नवीन उपन्यास राजनैतिक सामाजिक भ्रष्टाचार के प्रति कमर कस कर खड़ा हो गया। इस दशक के उपन्यासों में न केवल बाह्य स्थितियों का अंकन हुआ अपितु मानव मन की अनचाही गहराइयों में पैठ कर मानव व्यवहार का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया।

मुख्य शब्द, उपन्यास, भारतीय जनमानस, भ्रष्टाचार, कुण्ठा, स्वार्थ, शोषण आदि।

प्रस्तावना, स्वतंत्रता के उपरान्त हिन्दी नवदशकीय उपन्यासकारों का रूझान व्यक्तिवादी उपन्यासों की ओर तीव्र हो गया। ऐसे उपन्यासों में व्यक्ति के निजी पहलुओं, मान्यताओं, दृष्टिकोणों आदि का महत्व रहता है। प्रेम विवाह, प्रकृति, मृत्यु, सेक्स, समाज ईश्वर आदि के संबंध में उनके निजी विचार निजी अनुभवों से प्रसूत होते हैं। स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने अस्तित्ववादी जीवन–दर्शन को भी उपन्यासों में बाँधा है। अस्तित्ववादी व्यक्ति भौतिक सुख की कामना कर पीड़ा, दुःख, संत्रास को ही जीवन का मूल मंत्र मानता है। उसके अनुसार दुःख की कठिन परिस्थितियाँ ही अस्तित्व बोध की नियामक होती हैं। डा0 गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार "पीड़ा के आधार पर ही अस्तित्ववाद का

पीड़ा–दर्शन आधारित है क्योंकि पीड़ा ही अस्तित्व बोध की साधिका है।"[1] नवदशकीय हिन्दी उपन्यास साहित्य में स्वतंत्रता के पश्चात् रूढ़िगत संकीर्णताओं में जकड़ी जनता की विश्रंखलित स्थिति का तीव्र स्वर प्रबल रहा है। इस विचारधारा को गाँधीवादी व मार्क्सवादी चिंतन ने सर्वाधिक प्रभावित किया। उपन्यास और राजनीति के संबंध को लेकर भी विवेच्य (नवें) दशक में काफी बहसें हुई हैं। नवें दशक में लिखे गये अनेक उपन्यास जीवन से सीधे मुठभेड़ की प्रक्रिया के परिणाम हैं। उसकी जटिलता यदि उपस्थित है तो अनेक स्तरों पर व्यक्ति का संघर्ष भी अंकित है। अपने समय की राजनीति यदि वहाँ है तो अपने समय की विड़म्बनाएँ भी जीवन के सिमटते दायरे में व्यक्ति के अकेले पड़ने की त्रासदी की भयावहता के साथ अंकित है, तो व्यवस्था की मार झेलती जनता की संघर्षशीलता भी अभिव्यक्त हुई है।[2] यहाँ संस्कृति की उन बुनियादी परतों को देखा जा सकता है जिस पर पश्चिमी पद्धतियों की छाया पड़ी है और उन पर मलबों का ढ़ेर जमा हो गया है। उनमें विश्वसनीयता गहरी हुयी है। किसी भी साहित्यिक लेखन की पृष्ठभूमि परिवेशगत बदलाव से प्रेरित होती है। जब कभी सामाजिक जीवन में परिवर्तन घटित होता है, लेखन की दिशा एवं धारा भी बदल जाती हैं। परिवेश केवल काल और स्थान का सम्बोधन नहीं है बल्कि वह उस काल विशेष के सामाजिक चिन्तन के स्वरूप से भी बंधा होता है इसीलिए परिवेश काल, स्थान और चिन्तन के समीकरण का नाम है। वह मनुष्य और काल के अन्तः सम्बन्धों से प्रभावित होता हुआ लेखन को प्रभावित करता है।[3] नवें दशक के हिन्दी उपन्यास अनुभूति की व्यञ्जना और शिल्प के गठन के स्तर पर हमें प्रभावित करते हैं और सही मायनों में आगे लिखे जाने वाले उपन्यासों की दिशा एवं धारा तय करते हैं। इनकी महत्ता कोई अपूर्व 'क्लासिकी' की नहीं है वरन इसमें है कि यह अपने समय में है और अपने समय में होते हुए ये समय के पार जाने की क्षमता दिखाती है। समकालीन विमर्शों का शायद ही कोई पक्ष हो जो इन उपन्यासों में न आ पाया हो। अपने अकेले में ही नहीं वरन पूरे समुच्चय में ये उपन्यास एक बड़े विमर्श में ले जाते है जिसमें समकालीन भारतीय जीवन के बुनियादी प्रश्नों के साथ–साथ व्यवस्था के पाखण्ड और वैश्विक स्तर पर प्रभावी स्थितियों की भी पड़ताल है। शिल्प के स्तर पर भी इनकी निर्मिती प्रभावित करती है जिससे हम अनुमान लगा सकने में समर्थ होते हैं कि हिन्दी उपन्यास 'फार्म' के विवेक के प्रति भी संजीदा और जागरूक हो रहे है।"[4] उपन्यास की सफलता इस बात में निहित है कि वह अपने सृजन कारकों से संचालित न होते हुए उसका अतिक्रमण करे। कथा का अतिक्रमण चरित्र करें, परिवेश उन पर हावी न हो, अपने समय की नैतिकता पर उपन्यास की दृष्टि हो और समग्रतः उपन्यास अपने समय को अतिक्रमित करें, तो उपन्यास की सफलता न केवल सुनिश्चित है वरन् यही स्पृहणीय भी है।

हिन्दी उपन्यास पर बात करते हुये अक्सर इन बिन्दुओं की उपेक्षा की जाती है और अपने–अपने कारणों से अलग अलग उपन्यासों की चर्चा की जाती है। किसी भी उपन्यास की 'क्लासिकी' का मानक न तो उपने समय की राजनीति हो सकती है और न किसी खास की समस्या, विषय या प्रचलित अवधारणाओं के प्रति पक्षधरता। उपन्यास की उत्कृष्टता का पैमाना नहीं है कि वह अपने पर हावी तात्कालिकता से किस स्तर तक मुक्त है समग्रतः कहना चाहिए कि उपन्यास एक सपने की अभिव्यक्ति

है आकाँक्षा का सहर्ष है भविष्य का चेहरा है और कुल मिलाकर अपने समय के प्रश्नों का प्रक्रिया के बीच जूझते व्यक्ति का जीवन है, इसलिए वह स्चे–गढ़े गये उत्तरों का संसार नही हो सकता।[5]

नवें दशक में हिन्दी उपन्यास का धारा को स्पष्ट रूप से समझने के लिये यदि हम बीते कुछ दशकों को छोड़कर आठवें दशक के उन वर्षों की पर दृष्टि दौड़ाएँ तो दिखायी देगा कि सामाजिक जीवन, प्रशासन तंत्र, राजनीति की स्वार्थपरता, व्यक्ति का अकेलापन, विकास के नाम पर विनाश को आमंत्रित करती योजनाएँ और अपने भीतर दहकती भावाग्नि को लेकर सार्वजनिकता में भी अकेले पड़ते जा रहे मनुष्यों सहित अनेक पक्षों पर उपन्यासों का सृजन हुआ है। यहाँ जीवन की खोज है इसलिए संवेदना का सम्प्रेषण है, उन घटनाओं के माध्यम से जिनसे जीवन का ताना–बाना जुड़ा है।[6] यद्यपि इस काल खण्ड के अन्त पर परिस्थितियाँ इतनी अस्पष्ट एवं जटिल जान पड़ती है कि पक्ष और विपक्ष की भूमिका का रेखांकन संभव प्रतीत नहीं होता फिर भी लेखन के स्तर पर स्पष्ट प्रयास परिलक्षित होता है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशक ऐतिहासिक सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर आधुनिकता के दबाव के दशक कहते जा सकते है। सूचना प्रौद्योगिकी के प्रचार–प्रसार एवं दृश्य–श्रव्य माध्यमों के व्यापक फैलाव से देश धीरे–धीरे समाप्त होकर केवल काल के रूप में रह गया। नवदशकीय उपन्यासकारों के उपन्यासों में संबंधो और मर्यादाओं के भीतर इच्छाओं तथा भावनाओं के दमन का वर्णन सहज रूप में मिलता है। हमारे सामाजिक जीवन के दबाव से दूरदर्शन, फिल्म और अन्य संचार माध्यमों में हत्या, बलात्कार, संबंध विच्छेद, तलाक आदि के दृश्य और परिणामों की वृद्धि ने जिस रूप में सामाजिक यथार्थ का संकेत दिया है, उसी रूप में इस दशक के उपन्यासों में भी बढ़ा है। नवम दशक के उपन्यासों में कथ्य और शिल्प दोनों क्षेत्रों में जो क्रांन्तिकारी परिवर्तन दिखाई देते है, उनके मूल में युवा सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन की प्रतिक्रियाएँ ,युग जीवन के यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप आधुनिकता बोध की व्यंजना, उपन्यासकारों के जीवन दर्शन पर उन सबका प्रभाव और तदनुरूप नये उद्देश्यों या लक्ष्यों का निर्धारण परिलक्षित होता है।[7]

नवें दशक के उपन्यासों में सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :– नवें दशक के उपन्यासों के प्लाट के भीतर उसकी भूमिका माध्यम के रूप मे न होकर माध्य के रूप में है। अशिक्षित और अपढ़ ग्रामीण और आदिवासी स्त्रियों को जहाँ छठे, सातवें दशक में महन्त, नेता, पुलिस, अफसर या जंमीदार के शोषण और अत्याचार को चुपचाप सहते हुए दिखाया जाता है वहाँ अब उपन्यासों में इन्हें न केवल प्रतिरोध करते हुये बल्कि चालाकी के साथ शोषण को ही अपनी मुक्ति का माध्यम बनाकर सामाजिक सहज ढंग से चुनौती देते हुए दिखाया जाता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि नवें दशक से लिखे होने वाले उपन्यासों में स्त्री चरित्रों का वर्णन जिस प्रकार से किया जाने लगा है वह धीरे–धीरे पश्चिमी दुनिया की तरफ स्त्री पुरूष समानता की प्रतीति कराता है। यद्यपि कुछ स्त्री उपन्यास लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्री विमर्श का प्रभाव स्त्री सशक्तीकरण के रूप में एक सिद्धान्त के रूप में पाया जाता है फिर भी विवशता, लाचारी एवं जातीय मान्यता आदि का वर्णन स्त्री को संघर्ष करता हुआ ही सिद्ध करता है। पहले इस प्रकार के उपन्यासों में स्त्री लेखिकाओं का तो प्रश्न ही नही था, पुरूष लेखक भी

साहस नहीं करते थे परन्तु अब ऐसे वर्णन बड़े पैमाने पर विवशता और चयन दोनों ही दृष्टियों से मिलते है स्त्रियाँ स्वयं अपने अनुभवो को उपन्यासो में आत्मवाची शैली में कहती है। कुछ उपन्यासों में वे अनुभव उपलब्धि के रूप में भी वर्णित किये गये हैं तो वरण की स्वतंत्रता के अस्तित्ववादी और प्रजातंत्रवादी दृष्टिकोण के और शोषण मूलक वर्चस्ववादी संस्थानों के विरोध के परिचालक हैं। नारी अस्मिता मात्र व्यक्तिगत लड़ाई नहीं है, सामाजिक लड़ाई भी है। भारतीय नारी के सामने अनेक प्रश्न हैं सैद्धान्तिक भी तार्किक भी, व्यवहारिक भी। वह आज पुराने मिथकों, आदर्शो को तर्क के तराजू पर तौलती है किन्तु नयी परिस्थितियों ने उसे नये उत्तरदायित्व भी दिये हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जो दुनिया निर्मित हुई है, उसमें भारत सहित तमाम औपनिवेशिक समाजों में स्त्रियों के जीवन व चेतना में महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं। स्वयं स्त्री समाज ने युगीन परिवर्तनों और स्त्री के जीवन एवं संवेदना को जो रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है, उसके अध्ययन के माध्यम से समय की विसंगतियों एवं विडम्बनाओं के समझ को नया विस्तार दिया जा सकता है। नवदशकीय उपन्यासों में आतंक, कुण्ठा, विपरीत स्थितियों के बीच स्त्री–पुरूष संबंधो के द्वारा स्वातंत्र्य मूल्यों का चित्रण हुआ है। स्त्री–पुरूष संबन्धों में सर्वप्रमुख दृष्टि यह रही है कि समाज में स्त्री–पुरूष के लिए निर्धारित पृथक–पृथक मूल्यों परम्पराओंएवं मर्यादाओं को खुलकर चुनौती दी गयी है। भारतीय समाज मे विवाह को स्त्री जीवन का सबसे बड़ा उददेश्य एवं आदर्श माना गया है। किन्तु नवें दशक के भारतीय समाज में विवाह के सापेक्षिक व पारम्परिक स्थिति में मूल्य स्तर पर भारी बदलाव आया है। इस काल खण्ड के हिन्दी उपन्यासों में विवाह सम्बन्धी परिवर्तित दृष्टि का स्पष्ट प्रतिफलन देखा जा सकता है। अन्तरजातीय एवं प्रेम विवाह के नये मूल्य समाज में तेजी से विकसित हो रहे हैं। अब विवाह स्त्री के लिए पहली प्राथमिकता नहीं रह गयी है। उसका खुद का कैरियर ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है।

"साहित्य एवं जीवन में अस्सी के पूर्व बच्चों, परिवार को लिए स्त्री का त्याग परिवार के प्रति समर्पण भाव का यशगान हआ है। परन्तु अब मातृत्व के पुराने मूल्य और प्रतिमान टूट रहे हैं।"[8] इस प्रकार नवदशकीय हिन्दी उपन्यासों में सचेत स्त्री मातृत्व के साथ–साथ स्वयं के बारे में, स्वयं की अस्मिता के बारे में सचेत ही नहीं पूर्ण रूप से जागरूक भी है। नवदशकीय उपन्यासों की स्त्री केवल पारम्परिक घरेलू भूमिकाएँ निभाने वाली स्त्री ही नहीं है बल्कि वह शिक्षित और नौकरी पेशा बनकर एक आत्म निर्भर स्त्री के रूप में परिभाषित हो रही है और जो पुरूष के समानान्तर अपनी पहचान बना रही है। उषा प्रियंवदा की नमिता (शेषयात्रा) इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। हिन्दी उपन्यास में पिछले पचास वर्षों में नारी की स्थिति में आये परिवर्तन का उतार चढ़ाव स्पष्ट ढंग से देखा जा सकता है। जिसकी शुरूआत स्वतंत्रता पश्चात् के दशक से हो जाती है। 'इस समय के उपन्यास लेखन में पुरूष और महिला लेखकों का एक नया वर्ग सामने आता है। देखते–देखते नारी जागरण, नारीवादी आन्दोलनों का रूप ले लेता है।[9] सातवें दशक से ही हिन्दी उपन्यास में ऐसी स्त्री–चरित्रों का चित्रण होने लगता है, जो शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से आत्म–निर्भर होने पर भी पुरूष की संस्कारजन्य कुण्ठाओं की शिकार बनती हैं। आठवें दशक के समापन के साथ 'नारी–विमर्श हिन्दी उपन्यास का प्रमुख विषय बनता दिखाई

देता है तथा नवें दशक में नारी विमर्श शब्द केवल नारी मुक्ति से ही निरूपित होकर विवेचन, विचार, समीक्षा, परीक्षण, ज्ञान और कोशगत अर्थ में चरमबिन्दु को परिभाषित करता है। इस दृष्टि से गहरे अर्थ वाला यह शब्द नारी मुक्ति या नारी – स्वतंत्रता के साथ–साथ नारी की अस्मिता चेतना स्वाभिमान आदि तत्वों को भी अपने अंदर ले लेता है। इस दृष्टि से कृष्णा सोलती का 'मित्रो मरजारी' उपन्यास नीरस और पुराने मध्यमवर्गीय संस्कृति के विरूद्ध सर्वस्य दाँव पर लगा देने वाली स्त्री का प्रथम विद्रोह है। इसके लगभग 28 वर्ष पश्चात् विवेकी राय ने 'समर शेष है (1988) में जयंती के रूप में ऐसी शिक्षित लड़की का चरित्र पेश किया जो सामाजिक मान्यताओं और रूढ़ियों को चुनौती देती हुई 'कुमारी सौभाग्यवती' बने रहने का विकल्प स्वीकारती है, तथा सदियों से दबे कुचले और शक्तिहीन किसानों मजदूरो और स्त्रियों में व्यवस्था से लड़ने की शक्ति उत्पन्न करती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हर तरफ मानवता का ह्रास होता जा रहा है। जगह–जगह कुण्ठाओं का जन्म हो रहा है। जन मानव क्षुब्ध एवं कुण्ठित है। प्रश्नों की बौछार लगी है किन्तु समाधान कोई भी नहीं। आज भौतिकता के आकर्षण ने तथा उपलब्ध वैज्ञानिक साधनों ने एक ऐसा पर्यावरण तैयार कर दिया है जहाँ कटाव और भटकाव की स्थिति में व्यक्ति प्रतिक्षण मरता जीता है। फलस्वरूप इस भौतिकवादी युग ने मनुष्य को नई राहों की ओर मोड़ना प्रारम्भ कर दिया तथा इस आणविक युग का प्रत्येक व्यक्ति विभाजित व्यक्तित्व वाला हो चुका है। व्यक्तित्व के विभाजन, मूल्यों के विघटन आदि का चित्रण नवें दशक के उपन्यासों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता हैं। नवदशकीय हिन्दी उपन्यास साहित्य की उपर्युक्त वर्णित दिशा एवं धारा में जहाँ पुरूष उपन्यासकारों का प्रमुख स्थान रहा है वहीं आलोच्य दशक में महिला उपन्यासकारों ने भी अपनी औपन्यासिक क्षमता का खुलकर प्रदर्शन किया है विशेष रूप से स्त्री विमर्श के संदर्भ में। नवें दशक की महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में प्रायः स्त्री वर्ग अधिक सजग और अधिकारपूर्ण है। भारतीय जीवन में अधिकांश परिवारों में लड़की का जन्म अशुभ एवं लड़के का जन्म शुभ माना जाता है, अतः नारी उपन्यासकारों ने इस बात को ध्यान में रखकर ही उपन्यासों में अपने वर्ग को अधिकार व सम्मान दिलाने का प्रयत्न किया है।[10] महिला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में पात्रों के द्वारा समाज का परिवर्तन हर संभव स्थिति में चाहती हैं। वर्तमान में वैवाहिक समस्याओं के समाधान के निमित्त महिला उपन्यासकारों ने समाज को बदलना चाहा है। वे पुरूष को अधिक मिले अधिकारों से असंतुष्ट हैं । उनका मानना है कि पुरूष वर्ग नारी वर्ग को हेय समझता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी उपन्यास साहित्य में महिला लेखन अपनी निजता का अतिक्रमण करते हुए, अपने लेखन में जीवन में के वैविध्य को उजागर करते हुये विभिन्न सरोकारों के साथ उपस्थित है। तथा स्त्री लेखन अपनी निजता से आरम्भ होकर व्यापक जीवन जगत से जुड़ते हुए अपने अनुभवों की सर्जनात्मकता में इनका प्रयोग कर रहा है। यदि विगत दो–तीन दशकों की इस रचनात्मक यात्रा की पड़ताल की जाए तो स्त्री–लेखन में सार्थक विकास दिखाई देता है समय के साथ रचनात्मकता में परिवर्तन और बदली हुई प्रकृति उसकी संवेदना एवं सरोकारों की व्यापकपता को प्रकट करती है। वैश्वीकरण के इस दौर में स्त्री की दशा जहाँ एक ओर मजबूत हुई है तो दूसरी ओर उसके

सामने नई–नई चुनौतियाँ भी है। "उपभोक्तावादी सांस्कृतिक दौर में एक ओर स्त्री की स्थिति मजबूत हुई है तो दूसरी ओर वह कमजोर भी हुई है। यदि एक ओर धन कमाने के अवसर मिले हैं तो दूसरी ओर पारम्परिक उद्योग के बन्द होने पर पुरूषों से पहले निकाला भी गया है।[11] विगत दशकों में वैश्वीकरण के इस प्रभाव को महिला लेखन में बखूबी देखा जा सकता है जीवन जगत के ये व्यापक सरोकार कविता, कहानी, आत्म कथा और विशेष रूप से उपन्यास में बड़ी शिद्दत के साथ दिखाई देता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के नवें दशक में महिला उपन्यासकारों ने समाज के साथ – साथ व्यक्ति मन के स्वत्व को भी प्रमुखता से चित्रित किया है। मंजुल भगत , शिवानी, शशि प्रभा शास्त्री, मृदुला गर्ग, उषा प्रियंवदा, राजी सेठ आदि अनेक महिला उपन्यास लेखिकाएँ है जिन्होंने सामाजिक विचारों के साथ साथ मनुष्य के व्यक्तिगत इच्छाओं व आकांक्षाओ को अपने उपन्यास में स्थान दिया है। हिन्दी उपन्यास की चर्चा के क्रम में नवें दशक में उपन्यास की उपलब्धि के प्रतिमान कौन–कौन से उपन्यास बनते है इसका उल्लेख आवश्यक है। यहाँ पर हम औपन्यासिक परम्परा के नवदशकीय चरण में प्रकाशित उन उपन्यासों पर दृष्टि केन्द्रित करेगें जो अपने कथ्य के अनुरूप औपन्यासिक शिल्प का निर्वाह करते हुये नये युग में एक बड़ी बहस को जन्म देने में सफल रहे हैं। यह बहस शिल्प को लेकर तो है ही जो उनके फॉर्म की अन्तर्ध्वनियों में है, पर उसके साथ–साथ वे अपने समय में होते हुए उसका अतिक्रमण भी करते है। ये उपन्यास हिन्दी के औपन्यासिक विमर्श को कितना प्रभावित करते हैं, अपने समय की ठोस वास्तविकताओं से किस तरह संघर्ष कर पाते हैं। इस स्तर पर हम देखें तो प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत चर्चा में आये उपन्यासकार और उनकी रचनाएँ अपने समय के यथार्थ का सीधा सामना करते दिखायी देते हैं तथा उनके चरित्र अन्तिम दम तक जूझने से कतराते नहीं।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी उपन्यास एक नयी रचनाभूमि में प्रवेश करता है। आज़ादी मिलने के बाद हिन्दुस्तानी समाज में कई तरह के परिवर्तन होते हैं और नये सामाजिक अन्तर्विरोध विकसित होते हैं। नवें दशक में लेखकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो प्रेमचन्द की परम्परा में नये सामाजिक संबंधों की पहचान करता है, जो गाँव के किसानों की ज़िन्दगी, उनकी विसंगतियों उन पर पड़ने वाले अधूरे प्रभावों और इस तरह से बनते ढ़लते नये समाज के चित्र उपस्थित करता है।[12] स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में यथार्थ का जो स्वरूप उल्लास व आकांक्षा भरी थी, वह आठवें दशक के बाद से धीरे धीरे राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से विपन्न और आवरण रहित होकर निराशापरक तथा घनघोर रूप से आधारहीन हो गया। परिणामतः उपन्यासों में जहाँ पहले सम्बन्धों की ऊष्मा अथवा तर्कसंगत विरोध दिखाई पड़ता था वहाँ अब ऊब, खीझ, असंतुलन और आत्महीनता तथा मनमानापन दिखाई पड़ने लगा। 'परिदृश्य' का यह बदलाव एवं आर्थिक दबावों से उत्पन्न सामाजिक गतिशीलता से सजगता का एक नया दौर प्रारम्भ हुआ जिससे इस दौर के स्त्री चरित्रों अथवा पात्रों में समता, न्याय अथवा अधिकारों की माँग के स्थान पर प्रश्नानुकूलता, वैचारिकता, सशक्तता, जूझने की शक्ति, चुनौती स्वीकार करने की बलवती इच्छा, यथार्थ हेतु को समझने और परिभाषित करने की आकांक्षा शताब्दी के नवें दशक में प्रमुख रूप से देखने को मिलती है। स्त्री लेखिकाओं द्वारा लिखे हुए इस दौर के अनेक

उपन्यासों में अपने समय को परिभाषित करके उसके अनुकूल अपने को ढालने का नहीं बल्कि समय को अपने अनुकूल ढालने का चित्रण पाया जाता है।[13]

इस दृष्टि से विवेचन करने पर हमें नवें दशक के सर्वप्रथम उपन्यासकार के रूप में भगवती चरण वर्मा जी को पाते हैं, जिनके उपन्यास 'धुप्पल' (1981) और चाण्डक्य (1982) छोटे उपन्यास के रूप में है। इन उपन्यासों में भगवती बाबू की औपन्यासिक कला का कोई विशेष उत्कर्ष नहीं दिखाई देता है। 'धुप्पल' एक प्रकार से वर्मा जी की जीवनी है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन की घटनाओं को प्रस्तुत करके उसके आधार पर अपने नियतिवादी जीवन दर्शन की पुष्टि की है 'चाणक्य' वर्मा का अन्तिम उपन्यास है, जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में महापदुमनन्द की विलासिता और प्रजा पर उनके द्वारा किये जाने वाले भीषण अत्याचार चाणक्य द्वारा उनका प्रखर विरोध और उसके समूल विनाश की प्रतिज्ञा चाणक्य की नीति–कुशलता चन्द्रगुप्त का उदय, नन्द की विनाश और चन्द्रगुप्त के शासन में एक सशक्त साम्राज्य की स्थापना, इन घटनाओं को प्रमुखता दी गई है। उपन्यास में चाणक्य को एक कठोर, संयमी, पाण्डित्य तेज से दीप्त, अभेद्य व्यक्तित्व वाले राजनीतिज्ञ के साथ ही एक सुहृद प्रेमी और सद्गृहस्थ भी दिखाया गया है। यही इसकी विशेषता कही जा सकती है इस प्रकार कुल मिलाकर भवगती चरण वर्मा जी को नव दशकीय उपन्यास साहित्य में व्यक्तिवादी उपन्यासकार कहना गलत न होगा। इनके तीन उपन्यास 'पुरूषोत्तम' (1983ई0) 'गली अनारकली' (1985ई0) तथा 'कनाट प्लेस' (1986 ई0) प्रकाशित हैं। डॉ0 लाल ने अपने इन उपन्यासों में पात्रों, उनकी जीवन–स्थितियों, उनके संघर्षों और मनः द्वन्द्वों का चित्र बड़ी सूक्ष्मता और गहरी सहानुभूति से उकेरा है। अवध के देहात, लखनऊ की गरीब मुस्लिम परिवार की महिलाएँ शरीर बेचने के लिए विवश नर्तकियाँ, शहरी मध्यवर्ग का संघर्ष, रूपये की माया के समक्ष अस्तित्वहीन होते मानव–मूल्य यह सब कुछ उनके उपन्यासों में सजीव होकर सामने आया है, लेकिन इन स्थितियों को बदलने के लिए लेखक में किसी प्रकार के संघर्ष और विद्रोह की चेतना नहीं है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारो में सर्वश्री जैनेन्द्र को नवें दशक में प्रकाशित 'दशार्क' (1985ई0) उपन्यास उनका अंतिम उपन्यास है। इसमें उन्होंने 'वेश्या' के प्रश्न को उठाया है। तथा इसका उत्तर भी अपने चिर–परिचित प्रेमदर्शन के आधार पर देने का प्रयास किया है।

नवें दशक के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित उपन्यासकार भीष्म साहनी का 'मय्यादास की माड़ी' (1988 ई0) उनका 'तमस' के बाद दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें उन्नीसवीं शती के मध्य से बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक का इतिहास 'मय्यादास की माड़ी' (हवेली) को केन्द्र बनाकर प्रस्तुत किया गया है। 'मय्यादास' खालसा राज्य के प्रति समर्पित है। वह सामन्तीय मूल्यों का प्रतीक है। धनपत उसके बाद की पीढ़ी का प्रतिनिधि है। वह अंग्रेजी राज्य के प्रति वफादार है । धनपत का छोटा बेटा हुकमत राय तीसरी पीढ़ी का प्रतिनिधि है वह पाश्चात्य पूँजीवादी संस्कृति के रंग में रंगा हुआ है। वह इंग्लैण्ड से बैरिस्टरी पास करके लौटता है और 'माड़ी'(हवेली) का पश्चिमीकरण करता है। 'वस्तुतः 'मय्यादास की माड़ी' के माध्यम से भीष्म सहानी ने तीन पीढियों की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना के क्रमिक विकास

का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है।[14] विश्म्भरनाथ उपाध्याय ने अपने 'जाग मछन्दर गोरख आया' (1983ई0); दूसरा भूतनाथ (1985ई0) तथा 'जोगी मत जा' (1989ई0) उपन्यासों के द्वारा नवदशकीय उपन्यासकारों के बीच अपने कथाकार को प्रतिष्ठित किया है । जाग मछन्दर गोरख आया में गोरखनाथ को चतुर्दिक धार्मिक रूढ़ियों से संघर्ष करते हुए एक युग–पुरूष के रूप में चित्रित किया गया है। वे एक साथ वाममार्गी अभिचारों और अपने गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के कौलाचार के विरूद्ध उठ खड़े होते हैं। उपन्यासकार ने उनका चित्रण सच्चे अर्थों में एक नवीन मानव चेतना के वाहक के रूप में किया है। 'दूसरा भूतनाथ' में लेखक ने देवकीनन्दन खत्री के प्रसिद्ध उपन्यास 'भूतनाथ' के केन्द्रीय पात्र 'भूतनाथ' को एक आदर्श जन–नायक बनाकर प्रस्तुत किया है। भूतनाथ तिलिस्म तोड़ने में माहिर था। आज की पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं का तिलिस्म और जटिल है।.....इसके लिये भूतनाथ जैसे दृढ़प्रतिज्ञ और निष्ठावान जननायक की आवश्यकता है।..... इस प्रकार भारत को सच्चे अर्थो में स्वतंत्र और विकसित राष्ट्र बनाने के लिए लेखक ने एक दिशा–निर्देश किया है।[15] 'जोगी मत जा' उपन्यास भर्तृहरि के चरित्र को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से भर्तृहरि के युग को आकार देने का प्रयत्न किया है।

उपन्यासकार जगदीश चन्द्र ने 'घास गोदाम' (1985ई0) उपन्यास के माध्यम से नवदशकीय उपन्यास लेखको में अपना स्थान प्रतिष्ठित किया है। 'घासगोदाम' में दिल्ली के विस्तार के परिणामस्वरूप उसके आस पास के किसानों का भूमिहीन होना तथा जीविका के दूसरे साधनों को जुटा पाने में अपनी असमर्थता के कारण बनियों, धर्म के ठेकेदारों, राजनीति के नये व्यवसायियों के चंगुल मे फँसकर मजदूर या अपराधी का जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य होना दिखाया गया है। इस प्रकार उपन्यासकार 'जगदीश चन्द्र निरन्तर सामान्य जन के दुःख दर्द को सामने रखकर आज के संदर्भ में उनके संघर्ष और जिजीविषा को पूरी सहानुभूति के साथ चित्रित करते रहे हैं।[16]

निष्कर्ष, नवें दशक में उपन्यासकार हृदयेश के तीन उपन्यास 'साँड' (1981ई), 'पुनर्जन्म' (1985ई) तथा दंडनायक (1990 ई0) प्रकाशित हुए हैं। 'साँड उपन्यास में शिक्षा संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर किया गया है। 'पुनर्जन्म' में परिस्थितियों से जूझने में असमर्थ बनारसी प्रसाद गुप्त के आत्महत्या कर लेने पर उनका पुत्र दीपक निराश नहीं होता। वह माँ के साथ मिलकर नयी जिन्दगी की शुरूआत करता है। दीपक के रूप में मानो बनारसी प्रसाद का पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार हृदयेश ने 'पुनर्जन्म' में जीवन में संघर्ष चेतना को जागृत करने और निरन्तर बाधाओं से जूझकर उनसे ऊपर उठने की प्रेरणा दी है। उपन्यासकार मुद्राराक्षस ने नवें दशक में 'हम सब मनमानस' (1981ई0) 'शान्तिभंग' (1982 ई0) प्रपंचतंत्र. (1985 ई0) तथा 'दण्ड विधान' (1986ई0) उपन्यासों की रचना की है। मुद्राराक्षस के उपन्यासों का मूल स्वर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के समूचे तंत्र को बेनकाब करके नयी व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रगतिशील तत्वों को संघटित करना और शक्ति देना है। 'प्रपंचतंत्र' में उन्होंने पुलिस, कानून, शिक्षा–प्रणाली, राजनीतिक भ्रष्टाचार, दल–बदल धर्मांधता, चिकित्सा व्यवस्था, दहेज–प्रथा तथा अन्य अनेक प्रकार की कुरूपताओं पर गहरा व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। 'दण्डविधान'

में मुद्राराक्षस ने भद्रा गाँव को केन्द्र में रखकर गाँव के अन्त्यजों और अस्पृश्यों तथा उनका शोषण करने वाले सवर्णों के बीच वर्ग–संघर्ष को पूरी तरह उभारा है। नवें दशक के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित उपन्यासकार मार्कण्डेय का उपन्यास 'अग्निबीज' (1981 ई0) विशेष रूप से चर्चित हुआ है। इस उपन्यास में सन् 1953–54 ई0 के आस पास के राजनीतिक संदर्भ को केन्द्र में रखकर अप्रासंगिक होती हुई राजनीतिक चेतना के विरूद्ध जागृत होती हुई क्रांन्तिधर्मा युवा–चेतना को ग्रामीण परिवेश में चित्रित किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची,

1 स्वांतत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य मे जीवन दर्शन, डा0 सुमित्रा त्यागी–पृष्ठ–213

2 समकालीन हिन्दी उपन्यास– डा0 राम विनोद सिंह पृष्ठ– 40

3 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी – पृष्ठ – 8

4 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी – पृष्ठ – 16

5 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी – पृष्ठ – 18

6 नवम् दशक केउपन्यास, संवेदना और शिल्प, डा0 कल्पना मालिक चंद, पृष्ठ –8

7 स्त्री–विमर्श विविध पहलू, सम्पादक – कल्पना वर्मा पृष्ठ – 100

8 स्त्री–विमर्श विविध पहलू, सम्पादक – कल्पना वर्मा पृष्ठ – 212

9 महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता, डा0 राशि जैकब, पृष्ठ – 24

10 स्त्री–विमर्श विविध पहलू, सम्पादक – कल्पना वर्मा पृष्ठ – 78

11 स्वांतत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों के स्त्री पात्र, रेखा पाण्डेय , पृष्ठ – 17